भारतीय ज्ञानपरम्परा में कालमापन का प्राचीन प्रतिमान : वेदाङ्ग ज्योतिषीय संवत्सर-प्रणाली का अध्ययन

डॉ. सुनयना भाटी
पीएच. डी. (ज्योतिष) दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध-आलेख सार भारतीय ज्ञानपरम्परा में काल की संकल्पना केवल गणनात्मक या व्यावहारिक आवश्यकता तक सीमित नहीं रही है, अपितु वह दार्शनिक, याज्ञिक, खगोलीय तथा सांस्कृतिक आयामों से समन्वित एक व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। वैदिक साहित्य के षड्वेदाङ्गों में ज्योतिष को 'वेदचक्षुः' की संज्ञा प्रदान की गई है, क्योंकि यज्ञादि वैदिक कर्मों के समुचित सम्पादन के लिए काल-निर्णय का ज्ञान अनिवार्य माना गया है। इस सन्दर्भ में वेदाङ्ग ज्योतिष में प्रतिपादित संवत्सर-प्रणाली भारतीय कालमापन की प्राचीन एवं वैज्ञानिक आधारभूमि के रूप में विशेष महत्त्व रखती है। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य भारतीय ज्ञानपरम्परा में निहित कालमापन की अवधारणा के मूलाधार के रूप में वेदाङ्ग ज्योतिषीय संवत्सर-प्रणाली का शास्त्रीय एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। इस अध्ययन में वेदाङ्ग ज्योतिष के ऋक् तथा याजुष संस्करणों में वर्णित पंचवर्षीय युग, संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष एवं तिथि आदि काल-विभाजनों का समीक्षात्मक विवेचन किया गया है। साथ ही, प्राचीन भारतीय मनीषियों द्वारा चन्द्र एवं सौर गतियों के समन्वय के आधार पर विकसित कालगणनात्मक पद्धतियों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का भी परीक्षण किया गया है। शोध में ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक तथा पाठानुशीलनात्मक पद्धति का अवलम्बन करते हुए वेदाङ्ग ज्योतिष, सिद्धान्तग्रन्थों तथा आधुनिक अनुसंधानों के आलोक में संवत्सर-प्रणाली की संरचना एवं उसके वैचारिक आधारों का अनुशीलन किया गया है। अध्ययन से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि वेदाङ्ग ज्योतिषीय संवत्सर-प्रणाली केवल काल-निर्धारण की तकनीक न होकर खगोलीय निरीक्षण, गणितीय सूक्ष्मता तथा याज्ञिक आवश्यकताओं के समन्वय से विकसित एक सुव्यवस्थित कालवैज्ञानिक प्रतिमान है। यह प्रणाली भारतीय ज्ञानपरम्परा में कालबोध की वैज्ञानिक चेतना, प्रकृति के चक्रों के प्रति संवेदनशीलता तथा मानव जीवन और ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के मध्य अन्तर्सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती है। वर्तमान समय में भारतीय कालविज्ञान तथा पारम्परिक ज्ञान-प्रणालियों के पुनर्पाठ की दृष्टि से वेदाङ्ग ज्योतिषीय संवत्सर-प्रणाली का अध्ययन न केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, अपितु भारतीय वैज्ञानिक विरासत के पुनर्मूल्यांकन के लिए भी अत्यन्त प्रासंगिक सिद्ध होता है। अपितु भारतीय

वैज्ञानिक विरासत के पुनर्मूल्यांकन के लिए भी अत्यन्त प्रासंगिक सिद्ध होता है। वेदाङ्ग ज्योतिष के विभिन्न संस्करणों को सर्वप्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाता है।

मुख्य-शब्द : भारतीय ज्ञानपरम्परा, वेदाङ्ग, कालमान, संवत्सर-प्रणाली, दक्षिणायन, ऋतु , मास , वार विचार।

वैदिक कालीन कालगणना-परम्परा के अध्ययन में वेदाङ्ग ज्योतिष के उपलब्ध पाठों एवं संस्करणों का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। ये ग्रन्थ केवल ज्योतिषीय सिद्धान्तों के संकलन मात्र नहीं हैं, अपितु वैदिक युग में प्रचलित काल-निर्धारण प्रणाली के मूलाधार के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं । इनमें निहित गणनात्मक तत्त्वों के आधार पर तत्कालीन कालगणना-पद्धति तथा वैदिक संवत्सर-व्यवस्था का स्वरूप पुनर्निर्मित किया जा सकता है। इस दृष्टि से वेदाङ्ग ज्योतिषीय साहित्य को वैदिक कैलेण्डर-परम्परा का प्रामाणिक सैद्धान्तिक आधार माना जाना समीचीन प्रतीत होता है। वेदाङ्ग ज्योतिष में प्रतिपादित कालगणना-पद्धति का केन्द्र पञ्चवर्षात्मक युगचक्र है, जिसके अन्तर्गत दिवस, मास, ऋतु तथा संवत्सर आदि काल-विभागों का सुव्यवस्थित निरूपण प्राप्त होता है । इस प्रकार की व्यवस्था यह संकेत करती है कि वैदिक मनीषा ने प्राकृतिक एवं खगोलीय चक्रों के साथ मानवीय क्रियाकलापों के सामंजस्य की दृष्टि से समय को क्रमबद्ध रूप प्रदान करने का प्रयास किया था । तथापि भारतीय वैदिक कैलेण्डर की संरचना एवं उसकी विशिष्टताओं का विवेचन करने से पूर्व 'कैलेण्डर' की अवधारणा का स्वरूप स्पष्ट करना अपेक्षित है। सामान्यतः कैलेण्डर से अभिप्राय ऐसी संगठित प्रणाली से है, जिसके माध्यम से किसी वर्ष के प्रारम्भ एवं समापन के साथ-साथ उसके विभिन्न उपविभागों का निर्धारण एवं अनुक्रमण किया जाता है। व्यापक अर्थ में यह समय के प्रवाह को व्यवस्थित रूप से अभिलिखित करने तथा अतीत की गणनात्मक अवस्थाओं का बोध कराने वाली व्यवस्था का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, काल की मात्रात्मक अभिव्यक्ति को व्यवस्थित एवं बोधगम्य बनाने की जो पद्धति विकसित होती है, वही कैलेण्डर के रूप में अभिहित की जाती है। भारतीय परम्परा में इसी अवधारणा का विकसित एवं सांस्कृतिक रूप 'पञ्चाङ्ग' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ। पञ्चाङ्ग केवल तिथि-निर्धारण का साधन नहीं है, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक तथा व्यवहारिक आवश्यकताओं के अनुरूप समय के संगठन एवं विनियमन का एक सुव्यवस्थित माध्यम भी है। नागरिक जीवन की विविध गतिविधियों को समन्वित एवं अनुशासित करने के उद्देश्य से दिनों तथा कालखण्डों के क्रमबद्ध समूहीकरण की जो प्रणाली विकसित हुई,

वही भारतीय ज्ञानपरम्परा में पञ्चाङ्ग के रूप में विख्यात हुई। इस परिप्रेक्ष्य में वेदाङ्ग ज्योतिष कालमान-विज्ञान के विकासक्रम में एक महत्त्वपूर्ण सोपान के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसमें समय-मापन की आवश्यकता, काल-निर्धारण के आधारभूत मानदण्डों तथा गणना-पद्धतियों का अत्यन्त सुविचारित एवं व्यवस्थित विवेचन उपलब्ध होता है। फलतः यह त्रिस्कन्ध ग्रन्थ-परम्परा न केवल भारतीय कालगणना-विज्ञान की प्राचीनता का प्रमाण प्रस्तुत करती है, अपितु समय के वैज्ञानिक संगठन और उसके व्यावहारिक उपयोग के प्रति वैदिक चिन्तन की परिपक्वता को भी उद्घाटित करती है।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय संवत्सर प्रणाली

वेदाङ्ग ज्योतिष में काल-विभाजन की परम्परा बहुआयामी स्वरूप में प्रतिपादित हुई है, जिसके अन्तर्गत सौर मास , सावन मास , चान्द्र मास तथा नाक्षत्र मास जैसे विविध कालमानों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन विभिन्न मानकों के माध्यम से प्राचीन भारतीय ज्योतिषविदों ने वर्ष-निर्धारण की एक समन्वित पद्धति का निरूपण किया है। इस सम्बन्ध में याजुष्-ज्योतिष में स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है कि एक संवत्सर 366 दिनों का माना जाता है, जिसमें छह ऋतुएँ, दो अयन तथा बारह सौर मास समाविष्ट होते हैं । इसके अतिरिक्त युग-गणना के परिप्रेक्ष्य में सावन, चान्द्र तथा नाक्षत्र मानों के पारस्परिक सम्बन्ध का भी विशद निरूपण किया गया है। याजुष्-ज्योतिष के अनुसार पंचवर्षात्मक युग में कुल 61 सावन मास, 62 चान्द्र मास तथा 67 नाक्षत्र मास माने गए हैं। फलतः एक संवत्सर के सापेक्ष इनका औसत मान क्रमशः 12.2, 12.4 तथा 13.4 प्राप्त होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वेदाङ्ग ज्योतिष में वर्ष की अवधारणा केवल सौर गति पर आधारित न होकर विभिन्न खगोलीय चक्रों के पारस्परिक सामञ्जस्य पर अवलम्बित थी। इससे प्राचीन भारतीय कालगणना-पद्धति की वैज्ञानिक सूक्ष्मता तथा गणनात्मक परिष्कार का परिचय प्राप्त होता है। यदि वार्षिक मानों का पृथक् विश्लेषण किया जाए, तो एक संवत्सर में औसतन 12.2 सावन मास, 12.4 चान्द्र मास तथा 13.4 नाक्षत्र मास की परिकल्पना स्वीकार की गई है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि वेदाङ्ग ज्योतिष में समय-मापन के लिए एकाधिक आधारों का प्रयोग किया जाता था, जिनका उद्देश्य प्राकृतिक एवं खगोलीय गतियों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करना था। उल्लेखनीय है कि संवत्सर अथवा वर्ष के स्वरूप से सम्बन्धित उपर्युक्त सिद्धान्त मुख्यतः वेदाङ्ग ज्योतिष के ऋक् तथा याजुष् संस्करणों में ही व्यवस्थित रूप से उपलब्ध होते हैं। इसके विपरीत आथर्वण-ज्योतिष में वर्ष-विचार अथवा संवत्सर-निर्धारण से सम्बन्धित ऐसे विशिष्ट विवरणों का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संवत्सर-विज्ञान के विकास

एवं उसके गणितीय प्रतिपादन की दृष्टि से ऋक् तथा याजुष् परम्पराएँ अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध एवं व्यवस्थित थीं।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय अयन प्रणाली

वेदाङ्ग ज्योतिषीय परम्परा में अयन-चिन्तन का सर्वाधिक सुव्यवस्थित निरूपण ऋक्-ज्योतिष तथा याजुष्-ज्योतिष में प्राप्त होता है। ऋक्-ज्योतिष के अनुसार किसी नवीन युग के उत्तरायण का आरम्भ उस समय माना जाता है, जब सूर्य और चन्द्रमा धनिष्ठा नक्षत्र में संयोगावस्था में स्थित होते हैं। इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया गया है कि धनिष्ठा नक्षत्र के प्रारम्भिक भाग में सूर्य एवं चन्द्रमा की गति उत्तराभिमुख होती है, जबकि आश्लेषा नक्षत्र के मध्यांश में उनकी गति दक्षिणाभिमुख मानी जाती है। इस प्रकार नक्षत्राधारित खगोलीय अवलोकनों के आधार पर उत्तरायण और दक्षिणायन के संक्रमण-बिन्दुओं का निर्धारण किया गया है। अयनारम्भ के मासों के विषय में आचार्य लगध का मत अत्यन्त स्पष्ट है। उनके अनुसार सूर्य का उत्तरायण माघ मास से तथा दक्षिणायन श्रावण मास से प्रारम्भ होता है। अयन-परिवर्तन की इस व्यवस्था का सम्बन्ध केवल सौर गति तक सीमित नहीं है, अपितु इसके फलस्वरूप दिन और रात्रि के मानों में होने वाले परिवर्तन का भी विशद् विवेचन किया गया है। लगध ऋषि के अनुसार सूर्य के उत्तरायण में प्रविष्ट होने पर दिन की अवधि क्रमशः बढ़ती है तथा रात्रि का मान घटता जाता है। इसके विपरीत दक्षिणायन के आरम्भ से रात्रि की अवधि में वृद्धि तथा दिन के परिमाण में ह्रास होने लगता है। इस परिवर्तन की चरम सीमा छः मुहूर्त तक स्वीकार की गई है , जिससे स्पष्ट होता है कि वेदाङ्गीय ज्योतिषाचार्यों को ऋतुचक्र एवं कालमान में होने वाले प्राकृतिक परिवर्तनों का सूक्ष्म बोध था। महर्षि लगध ने अयनारम्भ से सम्बद्ध तिथियों का भी निर्देश किया है। उनके मतानुसार संवत्सर के प्रथम अयन का प्रारम्भ माघ शुक्ल प्रतिपदा से होता है, जबकि पञ्चसंवत्सरात्मक युग के अन्तिम दक्षिणायन का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण पक्ष की दशमी तिथि से माना गया है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि प्रतिपदा, सप्तमी, त्रयोदशी, चतुर्थी तथा दशमी ये पाँच तिथियाँ दो-दो बार अयनारम्भ के अवसर पर प्राप्त होती हैं , अर्थात् प्रत्येक तिथि का सम्बन्ध दो पृथक् अयनों से स्थापित होता है। ऋक्-ज्योतिष में अयनारम्भ के समय चन्द्रमा की नाक्षत्रिक स्थिति का भी उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार वसु, त्वष्टा, भव, अज, मित्र, सर्प, अश्विनीदेव, आपः, धाता तथा क के अधीन माने जाने वाले नक्षत्र क्रमशः युगारम्भ से लेकर प्रत्येक अयन के प्रारम्भ में चन्द्रमा की स्थिति का संकेत करते हैं। इस प्रकार अयन-चक्र, तिथि, नक्षत्र तथा दिन-रात्रि के मानों के मध्य अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करते हुए एक समन्वित कालगणनात्मक

प्रणाली का प्रतिपादन किया गया है। याजुष्-ज्योतिष में प्रतिपादित अयन-सिद्धान्त मूलतः ऋक्-ज्योतिष के मतों के अनुरूप ही हैं। अयनारम्भ, दिन-रात्रि के मान में होने वाली वृद्धि एवं ह्रास, तिथि-निर्धारण तथा चन्द्रमा की नाक्षत्रिक स्थिति आदि विषयों में दोनों ग्रन्थों के सिद्धान्तों में उल्लेखनीय साम्य दृष्टिगोचर होता है। इसके विपरीत, आथर्वण-ज्योतिष में अयन-संबन्धी विचारों का व्यवस्थित प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अयन-विमर्श की दृष्टि से ऋक्-ज्योतिष और याजुष्-ज्योतिष की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं सुव्यवस्थित थी

वेदाङ्ग ज्योतिषीय ऋतु प्रणाली

वेदाङ्ग ज्योतिष में काल-विभाजन की परम्परा के अन्तर्गत ऋतु की अवधारणा को भी विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भिक श्लोकों में ही युग के अधिष्ठाता प्रजापति के विभिन्न अवयवों के साथ ऋतु का समावेश किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि ऋतु को केवल प्राकृतिक परिवर्तन का द्योतक न मानकर व्यापक कालचक्र के एक अभिन्न अवयव के रूप में स्वीकार किया गया था। ऋतु-मान के निर्धारण के प्रसंग में यह प्रतिपादित किया गया है कि एक ऋतु की अवधि साढ़े चार नक्षत्रों के तुल्य मानी जाती है। इसके साथ ही यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि युगारम्भ के समय सर्वप्रथम 'तपस्' अथवा शिशिर ऋतु का प्रवर्तन होता है। वेदाङ्ग ज्योतिषीय गणना-पद्धति के अनुसार युग का प्रारम्भ माघ मास की शुक्ल प्रतिपदा से माना गया है, जो शिशिर ऋतु का भी प्रारम्भिक बिन्दु है। इस आधार पर एक मास और एक दिवस के उपरान्त अगली ऋतु का आरम्भ निर्धारित किया गया है। फलतः वसन्त ऋतु का प्रवेश चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि से माना जाता है। इसी क्रम में कालगणना के आधार पर पूर्णिमा तिथि का सम्बन्ध आठवें ऋतु-चक्र के अन्तर्गत वसन्त ऋतु से स्थापित होता है। इस प्रकार ऋतु और तिथि के परस्पर सम्बन्ध का निरूपण वेदाङ्ग ज्योतिष की गणनात्मक सूक्ष्मता का परिचायक है। यद्यपि ऋक् ज्योतिष में षड्तु-व्यवस्था का प्रतिपादन प्राप्त होता है, तथापि याजुष् ज्योतिष में कहीं-कहीं पंचऋतु-व्यवस्था की ओर संकेत दृष्टिगोचर होता है, जो इस परम्परा के भीतर विद्यमान वैकल्पिक कालबोध का द्योतक है। ऋषि लगध ने केवल ऋतु-मान का निरूपण ही नहीं किया, अपितु 'ऋतुशेष' के निर्धारण की विधि का भी विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक पर्व में दिनमान से तिथि का जो अर्धांश अवशिष्ट रहता है, उन अवशेषों का संचय करने पर प्राप्त मान को 'ऋतुशेष' के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह निर्देश वेदाङ्ग ज्योतिष की सूक्ष्म गणनात्मक प्रवृत्ति तथा कालमान-निर्णय की वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। ग्रन्थ के उपसंहार भाग में भी यह स्पष्ट किया गया

है कि सम्पूर्ण प्रतिपादन का प्रमुख उद्देश्य ऋतु सहित विविध कालमानों की गणना का व्यवस्थित निरूपण है। ऋतु सम्बन्धी सिद्धान्तों की दृष्टि से ऋक् ज्योतिष तथा याजुष् ज्योतिष के मध्य पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। इसके विपरीत आथर्वण ज्योतिष में 'ऋतु' नामक पृथक् कालमान के विषय में कोई विशद चर्चा उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि रजस्वला-विधान के प्रसंग में 'ऋतुकाल' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है , तथापि उसका आशय जैविक अथवा शारीरिक सन्दर्भों से सम्बद्ध है और वह वेदाङ्गीय कालगणना के अन्तर्गत प्रतिपादित ऋतु-अवधारणा से पृथक् विषयवस्तु का प्रतिनिधित्व करता है।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय मास विचार

वेदाङ्ग ज्योतिष में कालविभाजन के अन्तर्गत मास-व्यवस्था का अत्यन्त सुव्यवस्थित निरूपण प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में विशेषतः माघ, श्रावण तथा पौष मासों का उल्लेख उल्लेखनीय है। महर्षि लगध ने पञ्चवर्षात्मक युग की संरचना का प्रतिपादन करते हुए उसके प्रारम्भ के लिए माघ मास तथा समापन के लिए पौष मास का निर्देश किया है। इसी प्रकार अयन-परिवर्तन के सन्दर्भ में यह प्रतिपादित किया गया है कि सूर्य माघ मास में उत्तरायण तथा श्रावण मास में दक्षिणायन गति का आरम्भ करता है। इससे स्पष्ट होता है कि ऋतुचक्र तथा सूर्यगति के मध्य विद्यमान सम्बन्ध को वेदाङ्ग ज्योतिषकारों ने वैज्ञानिक दृष्टि से समझने का प्रयास किया था। याजुष् ज्योतिष में एक संवत्सर के अन्तर्गत द्वादश सौर मासों की व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। साथ ही, वेदाङ्ग ज्योतिष के रचनाकाल में कालगणना के अनेक आधार प्रचलित थे, जिनमें सौर मास, सावन मास, नाक्षत्र मास तथा चान्द्र मास प्रमुख थे। इन विभिन्न मास-पद्धतियों के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लगधाचार्य ने पञ्चवर्षात्मक युग में 61 सावन मास, 62 चान्द्र मास तथा 67 नाक्षत्र मासों की संख्या का निर्देश किया है। सावन मास का निर्धारण 30 अहोरात्रों के आधार पर किया जाता था, जबकि चान्द्रमास का आधार तिथियों की गणना थी। सूर्य तथा चन्द्रमा की परस्पर कोणीय दूरी से तिथि का निर्धारण होता है और ऐसी 30 तिथियों का समूह एक चान्द्रमास का निर्माण करता है। दूसरी ओर, सूर्य के एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश, अर्थात् संक्रान्ति, के आधार पर सौर मास का निर्णय किया जाता था। इसी प्रकार 30 अहोरात्रों पर आधारित कालमान को सावन मास तथा चन्द्रमा के 30 नक्षत्रीय भ्रमणों के समतुल्य समयावधि को नाक्षत्र मास की संज्ञा प्रदान की गई है। वेदाङ्ग ज्योतिष में अधिमास की अवधारणा पर भी विचार किया गया है, जो इसकी सूक्ष्म खगोलीय दृष्टि का परिचायक है। ग्रन्थकार के अनुसार सौर दिवस और चान्द्र तिथि की परिमाणगत असमानता के कारण कालान्तर में दोनों गणना-पद्धतियों के मध्य अन्तर

उत्पन्न हो जाता है। इस असन्तुलन को समायोजित करने के उद्देश्य से पञ्चवर्षीय युग के मध्य तथा उसके अन्तिम चरण में अधिमास का समावेश आवश्यक माना गया है। इस प्रकार अधिमास की व्यवस्था वस्तुतः सौर एवं चान्द्र गणनाओं के सामञ्जस्य की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में प्रतिपादित होती है। यद्यपि आथर्वण ज्योतिष में मासों का प्रत्यक्ष एवं व्यवस्थित विवरण उपलब्ध नहीं होता, तथापि तिथि, पक्ष, अमावस्या तथा पूर्णिमा जैसे काल-विभाजक अवयवों का उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि ग्रन्थ के रचनाकाल में मास-व्यवस्था का ज्ञान सुविदित था। अतः यह कहा जा सकता है कि आथर्वण ज्योतिष में यद्यपि मासों का विशद विवेचन नहीं मिलता, तथापि उसमें निहित कालगणनात्मक तत्त्व तत्कालीन मास-पद्धति की सुविकसित परम्परा की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय पक्ष सम्बन्धी अवधारणा

वेदाङ्ग ज्योतिष की विविध परम्पराओं में पक्ष-व्यवस्था का सुव्यवस्थित प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है। ऋक् एवं याजुष् ज्योतिष के अतिरिक्त आथर्वण ज्योतिष में भी पक्ष-संबन्धी अवधारणाओं का पर्याप्त संकेत प्राप्त होता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय कालगणना-पद्धति में पक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋक् ज्योतिष में 'पक्ष' पद का प्रत्यक्ष प्रयोग उपलब्ध है। युगारम्भ के निरूपण में माघ मास तथा उत्तरायण के साथ शुक्ल पक्ष का उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि काल-विभाजन की संरचना में पक्ष को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता प्राप्त थी। इसी प्रकार पञ्चविंशति युगों की परिसमाप्ति के प्रसङ्ग में पौष मास के कृष्ण पक्ष के साथ युग की समाप्ति का निर्देश प्राप्त होता है, जिससे युग-चक्र और पक्ष-क्रम के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है। याजुष् ज्योतिष में भी मासों के पक्षाधारित विभाजन का संकेत मिलता है, जो इस व्यवस्था की व्यापक स्वीकृति का परिचायक है। इसके अतिरिक्त 'पूर्णमासी' आदि पदों का प्रयोग इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष की संकल्पना उस समय सुविदित एवं व्यवहारगत थी। अयनारम्भ से सम्बद्ध तिथियों के निरूपण में कृष्ण पक्ष की चतुर्थी तथा दशमी तिथि का उल्लेख भी इसी कालमापन-प्रणाली की परिपक्वता को उद्घाटित करता है। आथर्वण ज्योतिष में भी विविध प्रसङ्गों में शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष का उल्लेख प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि पक्ष-व्यवस्था केवल किसी एक शाखा तक सीमित न होकर वेदाङ्ग ज्योतिष की विभिन्न परम्पराओं में समान रूप से प्रतिष्ठित थी। समग्रतः उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष स्थापित किया जा सकता है कि प्राचीन ज्योतिषीय परम्परा में एक मास को दो पक्षों शुक्ल एवं कृष्ण में विभाजित किया जाता था तथा प्रत्येक

पक्ष पन्द्रह तिथियों से युक्त माना जाता था। इस प्रकार पक्ष-व्यवस्था तत्कालीन भारतीय कालगणना की एक सुव्यवस्थित एवं सर्वमान्य आधाररचना के रूप में प्रतिष्ठित थी।

वेदाङ्ग ज्योतिष वर्णित तिथि स्वरूप

महर्षि लगध विरचित ऋक्-ज्योतिष में कालगणना के एक महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में तिथि-व्यवस्था का पर्याप्त निरूपण प्राप्त होता है। ग्रन्थ में प्रतिपदा, तृतीया, चतुर्थी, षष्ठी, सप्तमी, नवमी, दशमी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी तथा पौर्णमासी आदि तिथियों का उल्लेख केवल नाममात्र के रूप में न होकर उनके गणनात्मक पक्ष की ओर भी संकेत किया गया है। तिथि-निर्णय की पद्धतियों का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि वेदाङ्गीय ज्योतिष में काल-विभाजन के सूक्ष्म मानकों के विकास पर विशेष बल दिया गया था। तिथि के स्वरूप के विषय में याजुष्-ज्योतिष एक विशिष्ट गणितीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि सावन-दिवस में से उसके बासठवें भाग का अपवर्तन करने पर जो अवशिष्ट भाग प्राप्त होता है, वही चान्द्र दिवस अथवा तिथि कहलाता है। इस प्रकार तिथि की अवधि सौर दिवस की अपेक्षा अल्प मानी गई है। इसी असमानता के परिणामस्वरूप युग-चक्र के मध्य तथा समापन-काल में अधिमास की आवश्यकता उत्पन्न होती है, जिससे सौर एवं चान्द्र गणना के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके। तिथि-समाप्ति के निर्धारण के सन्दर्भ में भी वेदाङ्गीय परम्परा में एक विशिष्ट गणितीय प्रक्रिया का निर्देश मिलता है, जिसके आधार पर पर्वोत्तर गतांशों के परिकलन द्वारा तिथि के अवसान-क्षण का निर्णय किया जाता था। इससे ज्ञात होता है कि तिथि-विचार केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित न होकर गणितीय सूक्ष्मता से भी सम्बद्ध था। तिथियों के स्वरूप, वर्गीकरण तथा उनके गुणात्मक विवेचन का सर्वाधिक विस्तृत प्रतिपादन वेदाङ्ग-ज्योतिष के आथर्वणीय पाठ में उपलब्ध होता है। यहाँ तिथियों को उनके स्वभावगत गुणों के आधार पर नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता तथा पूर्णा जैसी संज्ञाओं से अभिहित किया गया है, जो प्रत्येक पक्ष में क्रमशः आवर्तित होती हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार प्रतिपदा, षष्ठी एवं एकादशी नन्दा -संज्ञक; द्वितीया, सप्तमी तथा द्वादशी भद्रा -संज्ञक; तृतीया, अष्टमी एवं त्रयोदशी जया -संज्ञक मानी गई हैं। इसी प्रकार चतुर्थी, नवमी तथा चतुर्दशी को रिक्ता तथा पञ्चमी, दशमी एवं पञ्चदशी को पूर्णा -संज्ञा प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त षष्ठी, अष्टमी, चतुर्थी तथा नवमी को 'पक्षच्छिद्र' की श्रेणी में स्थान दिया गया है , जो उनके विशिष्ट फलविचार की ओर संकेत करता है। आथर्वणीय परम्परा में तिथियों का महत्त्व केवल वर्गीकरण तक सीमित नहीं है, अपितु उनके शुभाशुभ प्रभावों का भी विस्तृत प्रतिपादन प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में कार्यों की प्रकृति तथा विशेषतः यात्राओं की

सफलता को दृष्टिगत रखते हुए तिथियों का मूल्यांकन किया गया है। यात्रा के लिए द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, दशमी, एकादशी तथा त्रयोदशी को अनुकूल माना गया है, जबकि प्रतिपदा, चतुर्थी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को प्रतिकूल फलदायिनी तिथियों में परिगणित किया गया है। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष की तृतीया, सप्तमी, दशमी एवं चतुर्दशी तथा शुक्ल पक्ष की चतुर्थी, अष्टमी, एकादशी एवं पूर्णिमा तिथियों में भद्रा-दोष की उपस्थिति के कारण शुभकर्मों के अपेक्षित फल में विलम्ब की सम्भावना व्यक्त की गई है। पक्षच्छिद्र-संज्ञक तिथियाँ तथा चतुर्दशी भी यात्रा के लिए अनुपयुक्त मानी गई हैं। उल्लेखनीय है कि तिथियों के शुभाशुभ स्वरूप का निरूपण करने के उपरान्त ग्रन्थकार एक प्रकार के परिहार-सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार यदि किसी कार्य के प्रारम्भ से पूर्व विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा पुण्याहवाचन सम्पन्न कराया जाए, तो नक्षत्र, मुहूर्त, तिथि तथा करण से सम्बद्ध अशुभ प्रभावों का शमन होकर कार्य में मंगलप्रद गुणों की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार आथर्वणीय ज्योतिष में उपलब्ध तिथि-विवेचन केवल कालगणना की वैज्ञानिक पद्धति का परिचायक नहीं है, बल्कि यह फलित-ज्योतिष, शान्तिकर्म तथा अनुष्ठानप्रधान ज्योतिषीय परम्पराओं के क्रमिक विकास की दिशा का भी द्योतक प्रतीत होता है। अतः तिथियों के सम्बन्ध में प्राप्त यह विस्तृत विमर्श वेदाङ्गीय ज्योतिष के उस संक्रमणकालीन स्वरूप को उद्घाटित करता है, जहाँ शुद्ध गणितीय कालमापन और फलित-आधारित धार्मिक व्यवहार परस्पर एकीकृत रूप में विकसित होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय वार विचार

वार-तत्त्व के संदर्भ में उपलब्ध वैदिक ज्योतिषीय साहित्य का अवलोकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वेदाङ्ग ज्योतिष के ऋक् एवं याजुष् रूपान्तरों में सप्ताह अथवा वार-व्यवस्था से सम्बद्ध किसी सुव्यवस्थित सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इसके विपरीत आथर्वण ज्योतिष में इस विषय का अपेक्षाकृत विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ वर्णित सात ग्रहाधिष्ठित वाराधिपतियों का निरूपण इस बात का द्योतक है कि सप्तवारात्मक सप्ताह-पद्धति का विचार तत्कालीन कालगणनात्मक परम्परा में प्रतिष्ठित हो चुका था। इन वाराधिपतियों के रूप में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र तथा शनि का निर्देश किया गया है , जिससे ग्रहों एवं दैनिक काल-विभाजन के मध्य स्थापित सम्बन्ध का भी परिचय प्राप्त होता है। आथर्वण ज्योतिष में विभिन्न कालाङ्गों जैसे वार, करण, योग तथा तारा की तुलनात्मक सामर्थ्य के विवेचन के प्रसंग में वार को अपेक्षया अल्पबल अथवा निम्नतर प्रभावयुक्त माना गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि यद्यपि वार का उपयोग काल-निर्णय की प्रक्रिया में किया जाता था, तथापि अन्य कालाङ्गों

की अपेक्षा उसकी प्रभावकारिता को गौण स्थान प्रदान किया गया था। इसके साथ ही ग्रन्थकार ने केवल वाराधिपतियों का उल्लेख करके ही अपने विवेचन को समाप्त नहीं किया है, अपितु प्रत्येक वार के अनुकूल माने जाने वाले विविध व्यवहारिक एवं सामाजिक कार्यों का भी निर्देश किया है, जिससे तत्कालीन जीवन-पद्धति में ज्योतिषीय काल-निर्णय की व्यावहारिक उपयोगिता का बोध होता है। उदाहरणार्थ, अश्वारोहण, योगारूढ़ होना, गजारोहण, कन्यादान तथा क्रय-विक्रय जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन के लिए शुक्रवार को विशेष रूप से प्रशस्त माना गया है। इसके अतिरिक्त तिथि और वार के पारस्परिक संयोग के आधार पर भी शुभाशुभ फलनिर्णय की परम्परा का उल्लेख प्राप्त होता है। इस संदर्भ में नन्दा-संज्ञक तिथियों (१, ६, ११) का शुक्रवार के साथ, भद्रा-संज्ञक तिथियों (२, ७, १२) का बुधवार के साथ, जया-संज्ञक तिथियों (३, ८, १३) का मङ्गलवार के साथ, रिक्ता-संज्ञक तिथियों (४, ९, १४) का शनिवार के साथ तथा पूर्णा-संज्ञक तिथियों (५, १०, १५) का गुरुवार के साथ संयोग अत्यन्त कल्याणकारी एवं विजयदायक माना गया है। इन योगों को सम्पूर्ण अभिलषित फलों की प्राप्ति कराने वाला कहा गया है। इस प्रकार आथर्वण ज्योतिष में वार और तिथि के पारस्परिक सामञ्जस्य के आधार पर शुभकाल-निर्णय की जो परम्परा प्रतिपादित हुई है, वह भारतीय ज्योतिषीय कालचिन्तन की व्यावहारिक एवं फलितपरक प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण परिचायक है।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय वर्णित करण सम्बन्धी अवधारणा

वेदाङ्ग ज्योतिष के ऋक् तथा याजुष् रूपान्तरों में करणाधारित कालमापन के विषय में कोई स्वतंत्र अथवा व्यवस्थित निरूपण उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह संकेत प्राप्त होता है कि इन दोनों पाठपरम्पराओं में इस विषय को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया था। इसके विपरीत आथर्वण ज्योतिष में करण-संबन्धी सिद्धान्तों का अपेक्षाकृत विस्तृत एवं सुव्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता है। यहाँ तिथि के अर्धांश को 'करण' की संज्ञा प्रदान की गई है तथा इसकी कुल संख्या ग्यारह मानी गई है। इनमें से चार करण स्थिर अथवा ध्रुव प्रकृति के तथा सात करण गतिशील अथवा चर स्वरूप के माने गए हैं। चर करणों में बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज तथा विष्टि का उल्लेख किया गया है, जबकि शकुनि, चतुष्पद, नाग और कौस्तुभ को ध्रुव करणों के रूप में अभिहित किया गया है। आथर्वण ज्योतिष की एक विशिष्टता यह है कि इसमें करणों के केवल नामों का उल्लेख ही नहीं किया गया, अपितु उनके अधिष्ठाता देवताओं का भी निरूपण किया गया है। ग्रन्थानुसार शकुनि करण का अधिपत्य गरुड़ को, चतुष्पद करण का वृषभ को, नाग करण का नागदेवता को तथा कौस्तुभ करण का सम्बन्ध कुबेर से स्थापित किया गया है। इसी प्रकार चर करणों

में बव, बालव, कौलव तथा तैतिल के अधिदेवता क्रमशः विष्णु, प्रजापति, सोम और इन्द्र माने गए हैं। गर, वणिज तथा विष्टि करणों के अधिपति क्रमशः वासुदेव, मणिभद्र और मृत्युदेव बताए गए हैं। इस प्रकार करणों के साथ दैविक अधिष्ठान का सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें केवल गणितीय इकाई के रूप में न देखकर धार्मिक-दैविक आयाम से भी सम्बद्ध किया गया है। ग्रन्थ में विभिन्न तिथियों एवं पक्षों के आधार पर करणों के आवर्तन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वर्णित विधान के अनुसार शुक्लपक्षीय प्रतिपदा की रात्रि, पञ्चमी के दिवस, अष्टमी की रात्रि तथा द्वादशी के दिन के पूर्वार्द्ध में बव करण की स्थिति मानी गई है। इसी प्रकार पूर्णिमा की रात्रि, चतुर्थी के दिवस, सप्तमी की रात्रि तथा एकादशी के दिन में भी बव करण की पुनरावृत्ति का निर्देश किया गया है। करणों के इस चक्रीय विन्यास के आधार पर उन्हें शुभाशुभ फलदायक माना गया है तथा उनके यथार्थ स्वरूप के समुचित ज्ञान को मानवजीवन के लिए आवश्यक बताया गया है, जिससे व्यक्ति संभावित अनिष्ट अथवा आपत्तियों से स्वयं को सुरक्षित रख सके। आथर्वण ज्योतिष में करण-निर्णय की एक गणनात्मक पद्धति का भी निरूपण प्राप्त होता है, जो इस ग्रन्थ की वैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचायक है। इसके अनुसार जिस तिथि का करण ज्ञात करना हो, उसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से क्रमशः गिनकर प्राप्त संख्या को द्विगुणित किया जाता है तथा उसमें से एक घटाया जाता है। तत्पश्चात् प्राप्त संख्या को सात से विभाजित करने पर जो शेषफल प्राप्त होता है, उसके आधार पर बव से विष्टि तक के क्रम में सम्बन्धित करण का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आथर्वण ज्योतिष के रचनाकार को करण-तत्त्व के सैद्धान्तिक, दैविक तथा गणनात्मक तीनों पक्षों का गम्भीर एवं विशद ज्ञान प्राप्त था, जिसके कारण इस ग्रन्थ में करण-विज्ञान का अपेक्षाकृत अधिक विकसित स्वरूप परिलक्षित होता है।

वेदाङ्ग ज्योतिषीय मुहूर्त गणना पद्धति

वेदाङ्ग ज्योतिष के ऋक्-प्रवचन में मुहूर्त की संकल्पना का उल्लेख प्राप्त होता है , जहाँ एक अहोरात्र को त्रिंशत् (३०) मुहूर्तों में विभाजित माना गया है। इसी सन्दर्भ में उत्तरायण एवं दक्षिणायन के कारण दिन तथा रात्रि की अवधि में होने वाले परिवर्तन का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि दोनों के मान में अधिकतम छह मुहूर्तों तक की वृद्धि अथवा क्षय सम्भव है। याजुष्-परम्परा के वेदाङ्ग ज्योतिष में भी इस विषय में मूलतः ऋक्-ज्योतिष की परम्परा का ही अनुसरण किया गया है। दिनमान की गणना के प्रसङ्ग में वहाँ दिन को मुहूर्तात्मक इकाइयों में व्यक्त करने की पद्धति का निर्देश मिलता

है। तथापि इन दोनों संस्करणों में मुहूर्तों के पृथक्-पृथक् नामों अथवा उनके विशिष्ट स्वरूप का कोई व्यवस्थित निरूपण उपलब्ध नहीं होता।

इस दृष्टि से वेदाङ्ग ज्योतिष का आथर्वणीय संस्करण विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें मुहूर्त-विज्ञान का अपेक्षाकृत विस्तृत एवं सुसंगठित प्रतिपादन प्राप्त होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही महर्षि कश्यप द्वारा ब्रह्मा से मुहूर्त-संबन्धी जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है, जिससे इस विषय के दार्शनिक एवं ज्योतिषीय महत्त्व का संकेत मिलता है। ग्रन्थ में मुहूर्त के परिमाण का निर्धारण करते हुए कहा गया है कि त्रिंशत् त्रुटियों से एक मुहूर्त की निष्पत्ति होती है तथा ऐसे पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त दिन और रात्रि में विभक्त होकर कुल मिलाकर तीस मुहूर्तों का निर्माण करते हैं। आथर्वणीय वेदाङ्ग ज्योतिष की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि इसमें मुहूर्त-निर्णय की व्यावहारिक पद्धति का भी निरूपण किया गया है। ग्रन्थानुसार बारह अङ्गुल माप वाले दण्ड की छाया के आधार पर मुहूर्त का ज्ञान किया जा सकता है। दण्डच्छाया के विभिन्न मानों के अनुसार रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, सावित्र, वैराज, विश्वावसु, अभिजित्, रोहिण, बल, विजय, नैर्ऋत, वारुण, सौम्य तथा भग इन पन्द्रह मुहूर्तों का निर्धारण किया गया है। पूर्वाह्णकाल में सूर्य की छाया पश्चिम दिशा की ओर तथा अपराह्णकाल में पूर्व दिशा की ओर पड़ती है। छाया की अधिकतम लम्बाई छियानबे अङ्गुल तक मानी गई है। जब यह छाया पूर्वाभिमुख होती है, तब भग मुहूर्त का और पश्चिमाभिमुख होने पर रौद्र मुहूर्त का बोध कराया जाता है। मुहूर्तों के नामकरण के साथ-साथ उनसे सम्बद्ध कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन भी इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। समग्र अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि ज्योतिष-वेदाङ्ग के ऋक्, याजुष् तथा आथर्वण तीनों संस्करण भारतीय वैज्ञानिक, गणितीय, दार्शनिक तथा ज्योतिषीय चिन्तन के अमूल्य स्रोत हैं। विशेषतः शुभाशुभ काल-विवेचन के संदर्भ में इन ग्रन्थों का स्थान अत्यन्त प्राचीन और आधारभूत माना जा सकता है। वस्तुतः यही वे मूलाधार हैं, जिनके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने विविध ज्योतिषीय एवं शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना कर संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि में उल्लेखनीय योगदान प्रदान किया। इन ग्रन्थों में निहित काल-दर्शन, पंचाङ्ग एवं कालगणना की पद्धतियाँ, कैलेण्डर-निर्माण की वैज्ञानिक अवधारणाएँ, गणितीय सिद्धान्तों का प्रयोग, आकाशीय पिण्डों के अवलोकन एवं विश्लेषण की पद्धति तथा फलित-ज्योतिष के विकास से सम्बद्ध आधारभूत सूत्र ये सभी ऐसे तत्त्व हैं, जो वेदाङ्ग ज्योतिष को केवल प्राचीन ज्ञान-परम्परा का दस्तावेज मात्र न बनाकर भारतीय वैज्ञानिक विरासत का कालजयी एवं विशिष्ट महत्त्व का ग्रन्थसमूह सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वेदाङ्ग ज्योतिष केवल कालगणना का प्राचीन उपकरण न होकर भारतीय ज्ञानपरम्परा में विकसित वैज्ञानिक, गणितीय तथा

दार्शनिक दृष्टि का एक सुसंगठित प्रतिमान है। ऋक्, याजुष् तथा आथर्वण इन तीनों संस्करणों में मुहूर्त की संकल्पना का निरूपण क्रमशः विभिन्न स्तरों पर प्राप्त होता है, किन्तु आथर्वणीय परम्परा में इसका सर्वाधिक विस्तृत एवं व्यवहारोपयोगी स्वरूप परिलक्षित होता है। दण्डच्छाया के आधार पर मुहूर्त-निर्णय, मुहूर्तों का नामकरण तथा उनसे सम्बद्ध कृत्याकृत्य-विवेचन यह प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन भारतीय मनीषा ने समय के मात्र परिमाणात्मक पक्ष पर ही नहीं, अपितु उसके गुणात्मक एवं प्रयोजनपरक आयामों पर भी गम्भीर चिन्तन किया था। वस्तुतः वेदाङ्ग ज्योतिष में प्रतिपादित मुहूर्त-विज्ञान ने परवर्ती ज्योतिषीय साहित्य की आधारभूमि निर्मित की तथा काल-विवेक की एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया, जिसने भारतीय सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन को दीर्घकाल तक प्रभावित किया। इस प्रकार वेदाङ्ग ज्योतिष में निहित मुहूर्त-विमर्श भारतीय वैज्ञानिक चेतना, काल-दर्शन तथा ज्योतिषीय परम्परा की प्राचीनता, प्रामाणिकता और निरन्तरता का सशक्त साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ

1. *वशिष्ठसंहिता;1/7*
2. *आच्ज्यौतिषम्;1*
3. *बृहस्पति संहिता;1/7*
4. *नारद संहिता;1/4*
5. *याजुष् ज्यो०; 28*
6. *वही; 31*
7. *वही*
8. *वही*
9. *वही; 28*
10. *वही; 31*
11. *ऋक् ज्यो०; 16*
12. *वही*
13. *वही*
14. *वही; 7*
15. *वही*
16. *ऋक् ज्यो०; 6*
17. *वही; 8*
18. *ऋक्० ज्यो०; 9*
19. *वही; 10*
20. *वही; 9*
21. *वही; 5*
22. *याजुष् ज्यो०; 11*

23. याजुष् ज्यो०; 41
24. आथर्वण ज्यो०; 184
25. वही; 7
26. वही; 28
27. सू०सि०; 11-131
28. वही
29. ऋक् ज्यो०; 32
30. आथर्वण ज्यो०; 30
31. वही; 36
32. वही; 37
33. वही; 67
34. आथर्वण ज्यो०; 67
35. वही; 68
36. वही
37. वही; 69
38. वही; 65
39. कृत्रिरासदिवादरंभूत दिवाशुचरष्ट दिवाहर पूर्णदिवा।, इतिविष्टिरहर्गण रात्रिचरानच कर्म भवेत् कष्टतमाशु शुभम् ॥ आथर्वण ज्यो०; 58
40. वही
41. वही
42. वारश्चाष्ट गुणः प्रोक्तः करणं पोडशान्वितम्। द्वात्रिंशत् गुणयोगश्च तारापष्टि समन्विता ॥ वही; 91
43. विष्णुधर्मोत्तरपुराण;11/83-25
44. आथर्वण ज्यो०; 33
45. वही; 31
46. ऋक् ज्यो०; 7
47. वही
48. वही; 5
49. वही;6

***